—:ओइम तत्सत्:—

# सहज मार्ग

# SAHAJ MARGA

*Shri Ram Chandra Mission*

Publication Department

SHAHJAHANPUR U. P. (India)

Annual Subscription Rs. 4/— Per Copy Re. 1/—

## ❀ सम्पादक मंडल ❀

श्री काशीराम अग्रवाल (शाहजहाँपुर) हिन्दी विभाग

श्री सूर्य प्रसाद श्रीवास्तव (लखीमपुर-खीरी) अंग्रेजी विभाग

## —: विषय-सूची :—


| | हिन्दी | लेखक | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|---|
| १ | परम पद | —श्री लाला जी | १ |
| २ | साधना और कृपा | —श्री बाबू जी | १० |
| ३ | तुम्हें कैसे पाऊं भगवान | —कु० शशी टण्डन | १२ |
| ४ | गुरु महिमा | — श्री गुण्डे राव | १७ |
| ५ | मनुष्य की समस्या | — श्री ईश्वर सहाय | १६ |


ENGLISH SECTION


1. Sahaj Marga - a Dynamical Path — Sri Ram Chandra ji 23
2. New Pilgrimage — ,, Mragesh 28
3. The Forceless force — ,, I Sahai 32
4. The Highest Level of our Being — ,, Raghvendra Rao 37
5. Speach at the Basant Utsava at Shahjahanpur 1965 — ,, Rajgopalachari 40


### Practice for Beginners

1. *Meditation* :—

**Morning** - Sit in meditation for about half an hour at least in the beginning, thinking that Divine Light is present in your heart. Do it in a quite a simple and natural way without imposing it upon your mind. Never mind if you do not see the Light there. Start with a mere supposition, so to say, and Remain sitting in a medidative mood (in one posture as far as possible) with your inward eye turned towards the heart in a natural way without any imposition or effort to concentrate.

**Evening**—Meditate for half an hour, thinking that all complexities and impurities, including grossness, darkness etc, are going out from the whole system towards the backside in the form of smoke or vapours.

2 **Prayer** :—(as given on the front page of this issue)

To be offered at the night time, before going to bed. The proper and the most effective method for prayer is to sit in a suppliant mood and repeat the mentally two or three times, keeping in mind the real sense of it and then to go into meditation and be lost in the thought.

ॐ

# सहज मार्ग

उत्तिष्ठ जागृत प्राप्य बरान्निबोधत ।
(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो ! )


वर्ष ८ अङ्क ४ | संवत् २०२१ विक्रमी Year 1964 | Year 8 No. 4


## प्रार्थना

हे नाथ ! तूही मनुष्य जीवन का ध्येय है,
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक है,
तूही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है,
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

:०:

O, Master !
Thou art the real goal of Human life,
We are yet but slaves of wishes,
Putting bar to our advancement.
Thou art the only God and Power
to bring me upto that stage.

# सम्पादक की बात—

हमें खेद है कि पत्रिका का पिछला अंक वर्ष ८ अंक तीन छपाई की असुविधा के कारण काफी पिछड़ गया था इसी कारणवश हमें इस अंक के प्रकाशन में भी विलम्ब हुआ। आशा है सहृदय पाठकगण हमारी लाचारी को देखते हुए इस ओर ध्यान न देंगे।

प्रकाशन की इन तमाम असुविधाओं से ऊबकर मिशन की कार्य-कारिणी-समिति ने अपने निजी प्रेस खोलने का निश्चय कर लिया है और इसके लिए वह बराबर प्रयत्नशील भी है। हमें आशा है कि आगामी वर्ष के प्रारम्भ तक हमारा यह प्रयत्न सफल होगा।

———

# "परम पद"

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी, महाराज, फतेहगढ़)

— क्रमागत —

(शब्द माहात्म्य)

शब्द चैतन्य की अभिव्यक्ति है। यही जानों की जान, प्राणों का प्राण और अस्तित्वों का अस्तित्व है। इसके आधार पर सारा जगत ठहरा हुआ है। यही कूटस्थ अधिष्ठान आधार मात्र और सबका मदारेउलिया है। यही चौथी अवस्था है। हर जगह इसी शब्द की हरकत गति) की थरथराती हुई धारें दिव्य प्रकाश का दृश्य प्रस्तुत करती हुई विद्यमान हैं। जहां हरकत (गति) है वहां शब्द की धार है।

यही शब्द चक्कर खाने वाली आदि माया के क्षेत्र भंवर गुफा में घूम रहा है, वह भी महाकाल है। यही शब्द नीचे महाकाल के गोलाकार स्थान से उतर कर पारब्रह्म, ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म, सबल ब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर, शेष, महेश, ब्रह्मा, विष्णु आदि बनता है। यही देवी देव है, और यही माया देश में जीव-जन्तु, कीड़े मकोड़े पार्थिव प्राणी आदि भी है।

मंडल मुख्यः तीन है:—

(१) दयाल देश—जहां यह आधार मात्र, निश्चल अवस्था, कूटस्थ और उच्चतम आधार (मदारेउलिया) मात्र है।

(२) महाकाल देश—जिसमें सूक्ष्मता है। इसी के अन्तर्गत अल्तफ, लतीफ और कसीफ अर्थात कारण, सूक्ष्म और स्थूल मंडल भी हैं जो ब्रह्म लोक और पार ब्रह्म लोक आदि कहलाते हैं।

(३) माया देश—जहां कसाफत (स्थूलता) का क्षेत्र है और माया के मेल से शब्द भी स्थूल रूप में काम करता है।

इन्हीं तीनों का रियायती (आनुपातिक) और निस्बती (सांबंधिक) अभिप्राय किसी हद तक द्यु, अन्तरिक्ष और पाताल की परिभाषा में मौजूद है किन्तु इसकी व्याख्या आवश्यक है। बिना सत् वचन और उपासना की सहायता के कठिनाई से समझ में आता है।

प्रारम्भ में क्या था ? वर्णनातीत और अव्याख्येय अन्धकार ने अन्धकार को घेर रक्खा था। मौज (लहर-इच्छा) हुई। तारीकी (अन्धकार) का गिलाफ (आवरण) नीचे उतरा और उसने उतर कर हैरत (आश्चर्य) के अक्स (छाया) को अपने बतन (गर्भ) में लिया, और उससे महाकाल पैदा हुआ, जो अन्धकार (तम) और अक्स (छाया) का शरीरधारी गोलाकार रूप था, उसने इधरउधर देखा और कहा कि मैं हूं। उस वक्त से यह "मैं" का लफ्ज (शब्द) पैदा हुआ। और वह डरा, तब से डर (भय) निकला। मैं (अहम्) के साथ ही गैरियत (परायापन) के वहम (भ्रम) से डर पैदा होता है। फिर उसने सोचा कि मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं है मैं क्यों व्यर्थ डरता हूँ। और डर जाता रहा। सोचने से डर जाता रहता है जैसा कि अब भी होता है। उसने असल को देखा और चाहा कि मैं भी उसी तरह बढ़ जाऊं। यह वासना या ख्वाहिस का आरम्भ है जो उस पुरुष से हुई थी और वह अपने अन्दर बढ़ने लगा। तब से उसका नाम ब्रह्म पड़ा।

इसने इस अन्धकार से जिसका नाम माया है और जो इसका असली रूप है, मेल किया। और मटर के दाने की तरह दो रूप प्रकट हुए। एक पुरुष कहलाया यह पहला कायाधारी मुजस्सिम रूप था और दूसरी प्रकृति हुई जो पहले ही गिलाफ (आवरण) के रूप में थी, वही अब निकली। इसका नाम प्रधान भी है। पहले उसने वास्तविकता को ढक रखा था इस रिआयत से उसका यह नाम है।

जब पुरुष और प्रकृति हुई तो दोनों का मेल हुआ तब से साकार अंग रखने वाले रूप उसकी सन्तान के रूप में प्रकट हुए। उसने मिलन के समय प्रकृति के साथ सुख भोगा था अतः सृष्टि की प्रत्येक जाति में नर और मादा के जोड़े का प्रबन्ध है। और यह सिलसिला इस प्रकार चल निकला।

जिस समय तम का आवरण नीचे उतरा था उस समय एक के बाद एक पांच कलाएं भी धार के रूप में नीचे आईं। उनके रंगों में भिन्नता थी। पहली काली, दूसरी पीली, तीसरी लाल, चौथी श्वेत किन्तु लालिमा लिए हुए पांचवीं पूर्णतः श्वेत। यह कलाएं महाकाल मण्डल की हैं। उस काल पुरुष ने फिर ब्रह्म के तीन रूप धारण किए:—

(१) हिरण्यगर्भ, (२) अन्तर्यामी अथवा अव्याकृत, (३) विराट। यह तीन कारण, सूक्ष्म और स्थूल हैं पहली हिरण्यगर्भ कारण अवस्था है जिसमें पांच कारण, कलाएं शून्य महाशून्य हालतों में हैं। दूसरी अन्तर्यामी या अव्याकृत सूक्ष्म



अवस्था है जिसमें पांच कलाओं ने गन्ध, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का रूप धारण किया। यह लिङ्गुटी का मण्डल है। तीसरी विराट स्थूल अवस्था है जिसमें कारण कलाओं ने पांच स्थूल तत्वों का रूप धारण किया— आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी। यह सहस्त्र दल कमल का मण्डल है। तीनों देह जिस तरह ब्रह्म में हैं, वैसे ही जीव में भी हैं।

जब इस माया और ब्रह्म के मिलन से जीव-जन्तु पैदा हुए तो वह भी इसी के आवरण स्वरूप थे। मनुष्य के स्थूल देह में आकाश तत्व ने गले में, वायु तत्व ने हृदय में, अग्नि तत्व ने नाभि में, जल तत्व ने शिश्नेंद्रिय में और पृथ्वी तत्व ने गुदा में स्थिरता प्राप्त की। यह शरीर भी उन्हीं तत्वों के पञ्चीकरण से बना है। जिस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध मनुष्य के सूक्ष्म शरीर (हृदय) में रहते हैं वैसे ही वह अन्तर्यामी अर्थात् अव्याकृत में भी हैं। और जिस प्रकार मनुष्य के कारण देह में यह पांचों कलाएं सिमटी पड़ी रहती हैं वैसे ही हिरण्यगर्भ में भी हैं।

काल पैदा करता है और काल ही मारता है। यह काल का अटल नियम है। पहले जीवप्रलय के विषय में ज्ञात होना चाहिए।

जब मृत्यु आती है तब सब से पहले गुदा चक्र से पृथ्वी तत्व खिंच कर इन्द्री चक्र जल के स्थान में आता है और पृथ्वी तत्व जल रूप हो जाता है। हाथ पाँव ठन्डे हो जाते हैं। यह जल प्रलय है। फिर जल इन्द्री चक्र के स्थान से खिंच कर नाभि चक्र मे स्थित होता है और जल अग्नि ही अग्नि बन जाता है। नाभि चक्र से ऊपर का भाग गरम हो जाता है। यह अग्नि प्रलय है। फिर अग्नि अपने क्रम से खिंच कर नाभि चक्र से हृदय चक्र में आती है और हृदय चक्र अर्थात् सीने की हवा से मिल कर वायु का रूप बन जाती है और वायु ही वायु हो जाती है तब शरीर काँप उठता है। यह वायु प्रलय है। फिर अपने क्रम से हृदय चक्र की वायु खिंच कर कण्ठ चक्र के आकाश में आकर उसी के रूप में हो जाती है और गले से शब्द निकलने लगता है यह आकाश प्रलय है। नीचे का शरीर तो मर गया अब आँख से ऊपर का शरीर जीवित है। फिर जीव में जो ब्रह्म तत्व होता है उसका सिमटाव होता है। आँखें उलट जाती हैं और विराट तत्व में समा जाती हैं। यह विराट तत्व अपने क्रम से अन्तर्यामी तत्व में और अन्तर्यामी तत्व हिरण्यगर्भ में समा जाता है। यह ब्रह्म प्रलय है। जिसका नमूना सुषुप्ति है।

फिर ब्रह्म के तीनों देह काल तत्व में जा कर लय हो जाते हैं। यह काल तत्व प्रलय है। काल अपने क्रम से फिर गति प्रदान करनेवाली आदि माया के

भँवर गुफा में लय हो जाता है। आगे की तरफ खिचाव नहीं होता। उसी में ठिठका सिमटा सिकुड़ा पड़ जाता है इसी से महाकाल प्रलय कह सकते हैं। इससे आगे जो आश्चर्य रूप वाला अधिष्ठान कूटस्थ या आधार मात्र है उसके लय प्रलय नहीं होते। वह जैसा है वैसा ही रहता है।

## साधना काण्ड—साधन से तत्व साक्षात्कार

साधो साधन सहज करीजै।
बिन साधन कछु हाथ न आवै साधन भरम सुनीजै।
जग व्यवहार न हो बिन साधे परमारथ न सुनीजै ॥ १ ॥
सँस्कार और करम की जीवा फल के रूप पतीजै।
जैसी करनी वैसी भरनी, करनी बहिया भरीजै ॥ २ ॥
कथनी बदनी काम न आवै करनी को चित दीजै।
नाना रूप परापत अपना भरम प्रभाव भवीजै ॥ ३ ॥
बिन साधन यह भरम न जावै, साधन भरम मिटीजै।
साधन सहज है शब्द योग का उसीका रीति सिखीजै ॥ ४ ॥
मन का मैल विकार मिटै जब, तब निज रूप लखीजै।
सहज ही सहज कमाई करना, भव जल पार चलीजै ॥ ५ ॥
मन का मैल बिकार मिटै जब, तब निज रूप लखीजै।
सत-संग की कृपा से साधे, भरम सुफल करीजै ॥ ६ ॥

परब्रह्म का अर्थ है ब्रह्म से पहले या ब्रह्म से परे। जो दशा त्रिगुणात्मक, तीन देह वाले ब्रह्म के पहले थी या है उसको परब्रह्म कहते हैं। उसकी वह हालत है जिसमें अभी बढ़ने और सोचने की शक्ति प्रकट नहीं हुई थी, केवल माया की गुफा में वास्तविकता की छाया पड़ने से वह व्यक्त हुआ था। उसका खयाली मेराज (काल्पनिक उद्देश्य) बनाकर शारीरिक स्थानों से अलग मान कर उसके रूप को लक्ष्य बनाने के कारण उसको परब्रह्म कहा जाता है। उसका नाम शुद्ध ब्रह्म है। जिसमें शारीरिकता का दोष न हो वह शुद्ध है, और जिसमें शारीरिकता हो वह सबल ब्रह्म है। यह हिरण्य गर्भ की दशा है। यह सुषुप्ति की दशा के समान है। इसके परे शुद्ध ब्रह्म है। जिसको ईश्वर की शब्दावली में काल पुरुष और महाकाल पुरुष कहा है, और यह भँवर गुफा का अधिष्ठान है। ज्ञानेश्वर अर्थात् बड़े ज्ञानी इसको सब कुछ जानते हैं। अधिष्ठान कूटस्थमात्र की दशा इससे ऊँची



है, जिसे सन्तों ने सत्पुरुष बतलाया है, जो सत् लोक का अधिष्ठाता है। चौथी अवस्था को तुरीय कहते हैं, और चौथा पद हर त्रिलोकी की चोटी पर होता है। इससे खाली कोई भी नहीं।

पहला चित्र

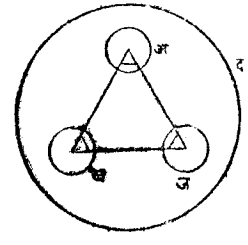


एक बड़ा वृत्त है, जिसके अन्दर एक बड़ा त्रिकोण है, और इस त्रिकोण के तीनों किनारों पर एक एक छोटा त्रिकोण है जो अपने अपने विशिष्ट वृत्तों के अन्दर बने हुए हैं। बड़ा वृत्त 'द' अधिष्ठान आधार मात्र है जो बड़ा चौथा पद है। शेष त्रिकोणों के वृत्त अपने अपने त्रिकोणों के क्रमशः चतुर्थ पद है। 'अ' त्रिकोण का वृत्त ब्रह्म है; 'ब' त्रिकोण का दायरा जीव है, और 'ज' त्रिकोण का दायरा प्रकृति है। यह त्रिकोण केवल समझाने के उद्देश्य से बनाये गये हैं। सच बात तो यह है कि ब्रह्म का त्रिकोण अपने वृत्त के साथ सब को घेरे हुए है, और जीव तथा प्रकृति के त्रिकोण उसी के अन्दर हैं जो बीच में हैं। ब्रह्म ऊंचा है और जड़ प्रकृति नीचे है। उसका काल्पनिक चित्र इस प्रकार समझना चाहिये :—

दूसरा चित्र

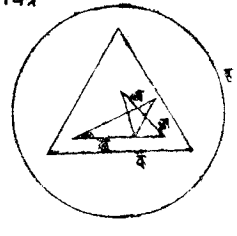


'अ' ब्रह्म, 'ब' जीव, 'ज' प्रकृति है। यह तीनों त्रिकोण तो साधारण हुये। 'द' बड़ा त्रिकोण है जिसके पेट में तीनों त्रिकोण विद्यमान हैं। यह परब्रह्म है। इसके बाद जो 'ह' वृत्त है वह आधार और अधिष्ठान है।

जीवपना वस्तु स्थिति है, ब्रह्मपना लक्ष्य है। जीव और ब्रह्म दोनों के गुणों को विस्मृत करके ज्ञानी ब्रह्म की वास्तविकता और असलियत को (जो परमब्रह्म है) अपना वैचारिक उद्देश्य बना कर चिन्तन करते हुये उसमें लय होने का साधन करते हैं, और उसी लक्ष्य को सब कुछ समझ कर संतुष्ट हो जाते हैं। बिना साधन के यह भी साक्षात्करण की हैसियत में नहीं आता।

तीसरा चित्र

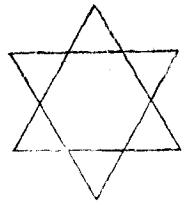

(१) ब्रह्म की त्रिलोकी कारण, सूक्ष्म और स्थूल को लिए हुये है, जिन्हें आत्मा, हृदय और शरीर कहते हैं।

(२) जड़ अथवा प्रकृति की त्रिलोकी जिसमें कारण-रूप पदार्थकता, सूक्ष्म पदार्थकता और स्थूल पदार्थकता, विद्यमान है।

(३) जीव त्रिलोकी जिसमें भी कारण सूक्ष्म और स्थूल अर्थात् आत्मा, हृदय और शरीर है।

इनके परे चौथा पद है जो तुरीय कहलाता है। किन्तु जो तुरीय परब्रह्म की चोटी पर है, उसको महत्व दिया जाता है :—

चौथा चित्र

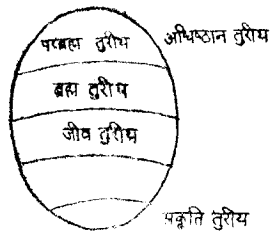


तुरीय का जब ज्ञान होगा, तब त्रिपुटी (त्रिपुटी) ज्ञातृ अवश्य रहेगा। यह दोष है, और पूर्णता की स्थिति नहीं है।



जब तुरीयातीत अर्थात् तुरीय में लय अवस्था पैदा हो जायगी तब दोष नहीं रहेगा। फिर इस तुरीयातीत अवस्था में भी लय अवस्था हैं, जिस में फिर त्रुटि नहीं रहेगी। ऐसी हालत का नाम 'सत्' अवस्था है। जो इसमें लय हो जाता है उसे उसका अनुभव तक नहीं होता। क्योंकि अनुभव उसका आरम्भ है, अन्यथा वह स्वयं लय अवस्था में अनुभव रूप हो जाता है।

तुरीय एक असीम दशा है जिसमें अनुभव जागता है। जागृत सीमित है, स्वप्न और सुषुप्ति असीमित है, उसी प्रकार तुरीय भी असीम है। जिस प्रकार जीव-जागृत, जीव-स्वप्न और जीव-सुषुप्ति सीमित है, वैसे ही जीव तुरीय को भी जीव की दृष्टि से ससीम होना चाहिए। किन्तु सुषुप्ति अज्ञान क्यों है—जैसा कि लोग मान रहे हैं? चूंकि उसमें जानने के लिए कोई सामान नहीं रहता, अतः कोई जाने भी तो क्या जाने! वहां जाकर जागृत और स्वप्न दोनों के तत्व सिमट कर बीज रूप में लय और एक हो जाते हैं। इस दृष्टि से चूंकि बेखबरी रहती है, अतः लोग असलियत को न जानकर उसे अज्ञान और अन्धकार कहते हैं। यद्यपि ज्ञान की जड़, बीज सब कुछ इसी के अन्दर है और इसी से स्फुरित होती रहती है हर चीज में ताजगी सुषुप्ति से ही आती है।

यदि ऐसा कोई उपाय मिल जाये कि सुषुप्ति में जाकर भी सुषुप्ति की खबर बनी रहे, तो वहां का पता सम्भव है। यह नितान्त सम्भव है, शर्त यह है कि सोचने वाला दिल जागता रहे और यह उपाय साधन हैं। जब हम जागृत अवस्था में दिल की सहायता से स्वप्न और सुषुप्ति की दशा पर विचार कर सकते हैं तो सुषुप्ति में भी किसी सीमा तक जागृत और स्वप्न का ज्ञान रखने की सम्भवना है, यदि हृदय अपने विचार करने के संस्कार साथ लिये जाये और कोई शक्ति उससे उसी की दशा के बारे में पूछे। बहुधा देखा गया हैं कि एक मनुष्य सो रहा है, गहरी नींद में है। दूसरा उससे सवाल करता जाता है, और वह उसका जवाब देता जाता है। जागने पर उसको ज्ञान नहीं रहता कि उससे प्रश्न किये गये।

तुरीय दिव्य दृष्टि की अवस्था है, जीव-तुरीय सदैव जीव के साथ रहती है अलग कभी नहीं होती। उसका सम्बन्ध सुरत के साथ है। उदाहरणार्थ कोई गंवार आदमी है। किसी प्रकार उसकी जीवावस्था की तुरीय जाग उठी। लोग उस पर भूत, प्रेत आदि का सवार होना कहकर और मार पीट कर तथा कष्ट देकर, उसकी तुरीय अवस्था को दबा देते हैं। जीव-तुरीय तो जीव के साथ रहती है, किन्तु वह ज्ञान के साथ उसमें नहीं गया। अतः उसकी लय अवस्था मेंत्रुटि रह गई और वह हानिकारक सिद्ध हुई। यदि ज्ञान के साथ जाता तो और ही दशा होती

हर हालत हर इन्सान में है किसी की दबी हुई अवस्था में है किसी की उभर आई है। और सब उसी के सहारे रहते हैं। (कोई-कोई) लड़के किसी किसी बात को ऐसा समझते हैं कि कोशिश करने और समझने बूझने पर बूढ़ों के भी समझ में नहीं आती। इसी तरह किसी गवांर मर्द और औरत में भी ऐसी ही दिव्य दृष्टि पाई जाती है। किसी में जरा सा ध्यान देने पर उभर आती है। और किसी को इस दशा को प्राप्त करने में मेहनत और साधन करना पड़ता है, और फिर भी शीघ्र नहीं मिलती। इस जीव तुरीय का उत्थान सुषुप्ति की तरह होता है। उसका विश्वास कम किया जाता है। चूंकि ब्रह्म तुरीय भी काल चक्र के अन्तर्गत है, अतः इसको प्राप्त कर लेने पर गिरावट हो जाती है, और प्राप्त हो जाने पर भी स्थायित्व नहीं होता। किन्तु चौथे पद की तुरीय अवस्था एक रस होती है। क्रमशः इसका साधन कर लेने से जब मन उसका रुप धारण कर लेता है तो फिर स्थाई दशा प्राप्त हो जाती है और वापसी नहीं होती।

## साधन (१) सत्संग (२) अभ्यास

उपासना सतगुरु की करनी चाहिए। वास्तविकता के संग को सतसंग कहते हैं। अभ्यास शब्द योग के साधन की दक्षता का नाम है।

सतगुरु की परिभाषा यह है कि (१) वह सत्निष्ठ हो, अर्थात् जिसकी चौथे पद में स्थिति हो और जीवनमुक्त दशा में विचरता हो।

२—वह शब्द अभ्यासी हो अर्थात् शब्द-अभ्यास के द्वारा अन्दर के स्थानों को नियन्त्रित किए हो, जो मनुष्य के मस्तिष्क में हैं।

३—उसके नेत्र प्रकाशवान् हों और उसका मत्था चौड़ा हो।

४—वह ज्ञान भक्ति और कर्म की समझ रखता हो और सवाल करने वालों को जवाब दे सकता हो, और सवाल करनेवालों की जबान को बन्द न करता हो।

५—केवल आध्यात्मिक बातों से सम्बन्ध रखता हो अर्थात् उनकी ओर ध्यान देता हो। यह मामूली पहचान है किन्तु वास्तविक आन्तरिक पहचान यह है कि उन्मीलित अर्न्तदृष्टि के द्वारा आन्तरिक फैज दे देकर अपने शिष्यों को सन्तुष्ट करता हो।

चौ०—तीसर तल चित वृत्ति निरोध। इसी लोक से हो परबोध॥
जब यह दशा लखे सखि अन्तर। सहस कमल दल साधे अन्तर॥
यह कसरत बिराट का थाना। ताको ब्रह्माण्ड कर जाना॥
श्याम कुन्ज में सूरत धरे। ज्योति लखे-धुनि श्रवनन करे॥
घण्टा शंख मधुर धुनि बानी। प्रकटे ज्योति प्रकाश निशानी॥

दो०—सुन अनहद अरु ज्योति लखि, सुरत परत हरषाय।
बाढ़े प्रेम मगन मन, हिय जिय अति उमगाय॥

चौ०—कछु दिन सहस कमल दल बासा। फिर दूजे मन्जिल की आसा॥
बंक नाल चढ़ि त्रिकुटी धावे। ओंकार का दर्शन पावे॥
ओंकार सत्गुरु प्रसाद। धारे चित्त वृत्ति को साध॥
यह गुरुस्थान सुनहला। अन्तर सत संग वचन का मेला॥
सूरज लाल लाल रंग बाना। ओम मृदंग धुनि आवे काना॥

दो०—इक टक नयन जमावे, एक चित्त सुन धुनि वैन।
देह दशा स्थिर करे, तब आगे के सैन॥

चौ०—त्रिकुटी साधन साध कहावे। साधू सोई देह पद पावे॥
यह उपासना अन्तर भाई। यहां से गुरुमत चाल चलाई॥
सुन मन्डल की ओर सिधावे। द्वैत सहज आ मन मन भावे॥
सीतल चन्द अमी रस-पागा। जो लखि पावे परम सुभागा॥
किंगरी सारंगी धुनि धूम। सुन्न सुरत रहे भीतर झूम॥

दो—सुरत निरत का रूप धर, नाच रही सुन धाम।
निरख परख अपनी दशा, पावे थिर विश्राम॥

चौ०—अन्धकार जहं घोर व्यापा। सुरत निरत नहिं चीन्हे आपा॥
सुन्न समाधि लागी तारी। महा सुन्न सोइ अकथ अपारी॥
ब्रह्मरंध्र का शिखर सुहाना। नाम प्रताप सुरत लखि जाना॥
जग मग सूरज सत रंग चमका। प्रगटा सारंगी सुन हरखा॥
मान सरोवर कर अस्नाना। हंस सुगति मति सुबुधी जाना॥

दो०—कलिमल अवगुन धोयकर, निर्मल बिमल अनूप।
क्षीर नीर को छान कर, धरा हंस का रूप॥

# तुम्हे कैसे पाँऊ भगवान

[ कु० अंजि टंडन ]

बेटा वैराग्य ! बेटा वैराग्य !

न जाने कहाँ चला गया मेरा वैराग्य ? खाने का समय हो गया न जाने कहाँ भूखा भटक रहा होगा। सभी कहीं तो देख आई, सारा घर देख डाला, मोहल्ला देख डाला लेकिन वैराग्य का पता न चला।

आत्मा अटल, विश्वास सभी के घर तो दिखला लिया। उसके सभी साथी अपने-अपने घर पर अपनी प्रेममयी माता द्वारा पकाया भोजन पा रहे हैं और आज मेरा वैराग्य न जाने कहाँ चला गया ?

तभी माँ ने देखा कि कोने वाले कमरे में आलमारी के पीछे एक कोने में दुबककर बैठा हुआ वैराग्य सिसकियाँ भर रहा था।

माँ ने एकदम से अपने लाड़ले का आँचल में भर लिया और गोद में उठाकर बड़े प्यार से पूछा,—"मेरे लाल ! तू क्यों रो रहा है ?"

"मेरा आज रोने का ही जी चाह रहा है, माँ।"

"मेरे बेटे अपनी माँ को अपने रोने का कारण नहीं बतायेगा ?"

"बताने से फायदा ही क्या ? क्या माँ तुम उसका हल बता सकोगी ?"

'कारण तो बता नहीं मेरे लाडले — मैं उसका हल जरूर बताऊंगी। जिस माँ ने तुझे जन्म दिया वह तेरी परेशानी को दूर न कर सके लेकिन क्या हल भी नहीं बता सकती बेटे !

"माँ !" मुझे विश्वास नहीं होता।"

"ऐसा क्या प्रश्न है जिसका मैं तुझे हल नहीं बता सकती, तू बता तो सही।"

अच्छा तो सुनो ! माँ, मैं ईश्वर को प्राप्त करना चाहता हूं, कैसे करूं बता।

यह क्या कह रहा है तू, अभी तेरी आयु ही क्या है, अभी तो इतना छोटा है, छोटे बच्चे तो स्वयं ईश्वर होते हैं।

नहीं माँ ! मैंने कहा था न कि तुम हल नहीं बताओगी। मैं तो ईश्वर जरूर प्राप्त करूंगा।



कैसा भोला, मासूम है मेरा वैराग्य इतनी छोटी उम्र में इतना समझदार, मैं क्या उत्तर दूं इसके प्रश्न का।

अच्छा बेटा यह तो बता कि तुझे ईश्वर के विषय में किसने बताया।

माँ ! आत्मा, अटल और विश्वास सभी तो कहते हैं कि उनमें तो "यथा नाम तथा गुण" है और मेरा नाम तो वैराग्य है लेकिन मुझमें वैराग्य नाम की कोई चीज नहीं। तब माँ मैं उनकी बात पर सोचने लगा तथा खेल छोड़कर मैं सामने वाले बगीचे के पेड़ के नीचे बैठ गया। मैं सिर झुकाये पृथ्वी की ओर देख रहा था।

तभी किसी ने आवाज दी, "बेटा ! यहाँ कैसे अकेला बैठा है, क्या सोच रहा है।" मैंने सिर ऊपर उठाया, देखा एक गेरुआ वस्त्रधारी बाबा थे। मैंने बाबा के चरण स्पर्श किए और बड़ी आशा, जिज्ञासा एवं उत्सुकता से कहा, ईश्वर चाहता हूं, वैराग्य चाहता हूँ बाबा ! यह बता दो कि मुझमें वैराग्य कैसे आये ?"

इस पर बाबा मुस्कराया और कहा, 'कि तुम अभी बच्चे हो क्या करोगे पूछकर।"

मैंने हठ किया, 'नहीं बाबा मुझे बताओ।" तो उन्होंने (बाबा), कहा वैराग्य ईश्वर की प्राप्ति से आता है। अब बता माँ ईश्वर की प्राप्ति कैसे करूं।

माँ ने कहा, बेटा ! ईश्वर की प्राप्ति गृहस्थ आश्रम में ही हो सकती है—यह निश्चित है। ईश्वर का असली रूप गृहस्थ आश्रम में ही देखा जा सकता है। देखो बेटा ! राम, कृष्ण सभी अवतारों के दर्शन तो गृहस्थ आश्रम में ही हुये। गीता में तो श्रीकृष्ण जी के द्वारा कहा गया है कि 'जब धर्म का ह्रास होता है, तब मैं जन्म लेता हूं।' तो बेटा आज जबकि धर्म का ह्रास हो रहा है—तो जरूर ही कोई महान् व्यक्तित्व (अवतार) अपना कार्य कर रहा होगा—वह महान् परमब्रह्म परमेश्वर मनुष्य रूप से इस संसार में कहीं विचर रहा होगा। परन्तु माँ बेचारी स्वयं अनभिज्ञ थी उस महान् व्यक्तित्व से। नहीं तो क्या अपने प्रिय बेटे का बिछोह सहन कर सकती ?

इतना समझाने पर भी वैराग्य को कहाँ शान्ति, उसमें कहाँ धैर्य—क्योंकि अब तो उसकी आत्मा जाग्रत हो चुकी थी। लेकिन आत्मा में अभी ठहराव नहीं उत्पन्न हुआ था।

भयानक अंधेरी रात, काले घटा छाई हुई तारागणों ने तो इस भयानकता से बचने के लिए आने को छोड़ दिया था। परन्तु ईश्वर अपनी महिमा से ऐसा प्रतीत होता था पत्तों और ओलों की वर्षा में फूल व मोती की वर्षा कर

# तुम्हे कैसे पाँऊ भगवान

[ कु० शशि टंडन ]

बेटा वैराग्य ! बेटा वैराग्य !

न जाने कहाँ चला गया मेरा वैराग्य ? खाने का समय हो गया न जाने कहाँ भूखा भटक रहा होगा। सभी कहीं तो देख आई, सारा घर देख डाला, मोहल्ला देख डाला लेकिन वैराग्य का पता न चला।

आत्मा अटल, विश्वास सभी के घर तो दिखला लिया। उसके सभी साथी अपने-अपने घर पर अपनी प्रेममयी माता द्वारा पकाया भोजन पा रहे हैं और आज मेरा वैराग्य न जाने कहाँ चला गया ?

तभी माँ ने देखा कि कोने वाले कमरे में आलमारी के पीछे एक कोने में दुबककर बैठा हुआ वैराग्य सिसकियाँ भर रहा था।

माँ ने एकदम से अपने लाड़ले का आँचल में भर लिया और गोद में उठाकर बड़े प्यार से पूछा,—"मेरे लाल ! तू क्यों रो रहा है।"

"मेरा आज रोने का ही जी चाह । है, माँ।"

"मेरे बेटे अपनी माँ को अपने रोने का कारण नहीं बतायेगा।"

"बताने से फायदा ही क्या ? क्या माँ तुम उसका हल बता सकोगी ?"

'कारण तो बता मेरे लाडले — मैं उसका हल जरूर बताऊंगी। जिस माँ ने तुझे जन्म दिया वह तेरी परेशानी को दूर न कर सके लेकिन क्या हल भी नहीं बता सकती बेटे !

"माँ !" मुझे विश्वास नहीं होता।"

"ऐसा क्या प्रश्न है जिसका मैं तुझे हल नहीं बता सकती, तू बता तो सही।"

अच्छा तो सुनो ! माँ, मैं ईश्वर को प्राप्त करना चाहता हूं, कैसे करूं बता।

यह क्या कह रहा है तू, अभी तेरी आयु ही क्या है, अभी तो इतना छोटा है, छोटे बच्चे तो स्वयं ईश्वर होते हैं।

नहीं माँ ! मैंने कहा था न कि तुम हल नहीं बताओगी। मैं तो ईश्वर जरूर प्राप्त करूंगा।



कैसा भोला, मासूम है मेरा वैराग्य इतनी छोटी उम्र में इतना समझदार, मैं क्या उत्तर दूं इसके प्रश्न का।

अच्छा बेटा यह तो बता कि तुझे ईश्वर के विषय में किसने बताया।

माँ ! आत्मा, अटल और विश्वास सभी तो कहते हैं कि उनमें तो "यथा नाम तथा गुण" है और मेरा नाम तो वैराग्य है लेकिन मुझमें वैराग्य नाम की कोई चीज नहीं। तब माँ मैं उनकी बात पर सोचने लगा तथा खेल छोड़कर मैं सामने वाले बगीचे के पेड़ के नीचे बैठ गया। मैं सिर झुकाये पृथ्वी की ओर देख रहा था।

तभी किसी ने आवाज दी, "बेटा ! यहाँ कैसे अकेला बैठा है, क्या सोच रहा है।" मैंने सिर ऊपर उठाया, देखा एक गेरुआ वस्त्रधारी बाबा थे। मैंने बाबा के चरण स्पर्श किए और बड़ी आशा, जिज्ञासा एवं उत्सुकता से कहा, ईश्वर चाहता हूं, वैराग्य चाहता हूँ बाबा ! यह बता दो कि मुझमें वैराग्य कैसे आये ?"

इस पर बाबा मुस्कराया और कहा, 'कि तुम अभी बच्चे हो क्या करोगे पूछकर।"

मैंने हठ किया, 'नहीं बाबा मुझे बताओ।" तो उन्होंने (बाबा), कहा वैराग्य ईश्वर की प्राप्ति से आता है। अब बता माँ ईश्वर की प्राप्ति कैसे करूं।

माँ ने कहा, बेटा ! ईश्वर की प्राप्ति गृहस्थ आश्रम में ही हो सकती है—यह निश्चित है। ईश्वर का असली रूप गृहस्थ आश्रम में ही देखा जा सकता है। देखो बेटा ! राम, कृष्ण सभी अवतारों के दर्शन तो गृहस्थ आश्रम में ही हुये। गीता में तो श्रीकृष्ण जी के द्वारा कहा गया है कि 'जब धर्म का ह्रास होता है, तब मैं जन्म लेता हूं।' तो बेटा आज जबकि धर्म का ह्रास हो रहा है—तो जरूर ही कोई महान् व्यक्तित्व (अवतार) अपना कार्य कर रहा होगा—वह महान् परमब्रह्म परमेश्वर मनुष्य रूप से इस संसार में कहीं विचर रहा होगा। परन्तु माँ बेचारी स्वयं अनभिज्ञ थी उस महान् व्यक्तित्व से। नहीं तो क्या अपने प्रिय बेटे का बिछोह सहन कर सकती ?

इतना समझाने पर भी वैराग्य को कहाँ शान्ति, उसमें कहाँ धैर्य—क्योंकि अब तो उसकी आत्मा जाग्रत हो चुकी थी। लेकिन आत्मा में अभी ठहराव नहीं उत्पन्न हुआ था।

भयानक अंधेरी रात, काले घटा छाई हुई तारागणों ने तो इस भयानकता से बचने के लिए आंख को छिपा लिया था। परन्तु ईश्वर अपनी महिमा से ऐसा प्रतीत होता था पानी और ओलों की वर्षा में फूल व मोती की वर्षा कर

रहा हो—एक समा सा बंधा था। ऐसी ही अंधेरी रात में वैराग्य ने घर छोड़ दिया। न जाने कहाँ जा रहा था ? अनजान दिशा की ओर, किसी की खोज में। खोज में तल्लीन था, रास्ते के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखता ही न था।

न जाने कब तक और कैसे वह चलता रहा. न जाने किस चीज की लगन थी, न जाने कहाँ का जोश था। उसे यह भी भान न हुआ कि रात कब आई और कब चली गई।

उसका तो भास तब हुआ जब किसी ने आवाज दी -'बेटा यहाँ क्या कर रहे हो—क्या चाहिए।" आवाज सुनते ही उस ओर देखा। मन्द मन्द समीर बह रही थी। सूर्य देवता अपने पूरे रूप में लालिमामय होकर निकल पड़े थे, गगन में किरणें फैली हुई थी, मालूम होता था जैसे चाँदी थाली में किसी ने सोना बिखेर दिया हो—पौ फट चुकी थी। उसने अपने को एक विशाल बगीचे में पाया, सामने आश्रम सा मालूम होता था, शायद ब्रह्मचारी प्रातःकाल की वन्दना करने जा रहे थे।

यह प्रश्न था एक सन्यासी का। जब कुछ क्षणों तक कोई प्रत्युत्तर न पाया तो वैराग्य के पास आकर उसे हिलाया, वह तो न जाने किस दुनिया में था।

चौंककर बोला—"ईश्वर की खोज में निकला हूं। क्या यहाँ कुछ जल मिल सकता है, प्यासा हूँ।' थकान का तो अन्दाज ही न था।

सन्यासी को उसकी एक ही दृष्टि ने मोह लिया। बोले ! मेरे साथ आओ बेटे। पहिले जल पियो, विश्राम करो, भोजन पाओ। मैं सब कुछ तुम्हें बताऊंगा, ईश्वर प्राप्ति का रास्ता भी बताऊंगा।'

वैराग्य को कुछ आश्वासन एवं सांत्वना तो अवश्य मिली परन्तु प्रफुल्लता का नाम भी नहीं था। जिस चीज की खोज में वह सब कुछ भूल चुका था, उसे पाकर प्रफुल्लता भी नहीं क्यों।

वैराग्य की बुद्धि भ्रम में पड़ गई। उसने धोखा खाया था—सद्गुरु की परख में। खैर अनमने मन से खाया, पिया, विश्राम किया—थकान दूर हुई। उठते ही फिर वही एकमात्र रट—'ईश्वर की प्राप्ति।' सन्यासी बाबा ने अन्य शिष्यों की भांति उसे भी मंत्र, जाप, पूजा पाठ, अनुष्ठान बतला दिये। वैराग्य जी जान से पूजा-पाठ में जुट गया क्योंकि उसे ईश्वर की प्राप्ति जो करनी थी।

भजन, वेद मंत्रों, यज्ञों में भाग लेता, परन्तु फिर भी कोई उन्नति उसे नजर नहीं आई। क्योंकि रास्ता जो गलत था, उन्नति होती कहाँ से, शांति मिलती कहाँ से। कुयें के नाम से कभी प्यास बुझती है क्या ? वैराग्य की तबियत खिन्न-खिन्न सी रहती थी, लेकिन बुद्धि धोखा खा सकती थी परन्तु आत्मा नहीं।

वैराग्य को ज्ञान न था कि बुद्धि भौतिक जगत की श्रेष्ठता है और आत्मा आध्यात्मिक जगत की। वास्तविकता तो यह थी—आत्मा का ठहराव अभी नहीं हुआ था—वही स्थिति जो घर छोड़ने के समय पर थी।

एक दिन बड़े जोर-शोर से रामधुन हो रही थी शहर के बड़े सेठ सत्संग जो बैठाला था। वैराग्य (यज्ञों का ज्ञाता माना जानेवाला, वहाँ उपस्थित न था। न जाने क्यों आज उसके दिल में टीसन हो रही थी अजीब सा दर्द था—तबियत खिन्न थी। उस आश्रम में जिसके अन्दर उसने आशा मिश्रित भाव से प्रवेश किया था—परन्तु नजर आ रहा था निरुत्साह, नीरसता एवं नैराश्य।

वैराग्य का उधर कीर्तन में महात्मागण तथा भक्तगण बड़ी बेचैनी से इन्तजार कर रहे थे—अपनी क्षणिक भक्ति की भूख को मिटाने के लिए। क्योंकि वही तो था सर्वेसर्वा मंडली का, वही तो था दरिद्र भजनों की अतृप्त, अतृप्त, असंतप्त भूख को मिटाने वाला सन्यासी राजा। उसके बिना कीर्तन जम ही न रहा था- बड़ी लगन, विश्वास प्रेम एवं भक्ति के साथ यह सब कुछ किया था परन्तु था व्यर्थ क्योंकि असली स्थान पर पहुंचने की इसमें न संभावना थी और न ही रास्ता।

इधर वैराग्य अपने विचारों में खोया हुआ था—मस्तिष्क में मालूम होता था उतार-चढ़ाव आज ही आँख मिचौनी खेल लेंगे। आज वैराग्य ने यह आश्रम भी छोड़कर अनजान पथ पर जाने का पुनः इरादा किया—आत्मिक शांति एवं अटल विश्वास के साथ। तभी इंतजार से थक कर, गुरूजी कीर्तन के लिए स्वयं वैराग्य को बुलाने आये—लेकिन वैराग्य आश्रम छोड़ चुका था। आज आश्रम छोड़ते समय वह उतना नासमझ व अज्ञानी नहीं था। आन्तरिक रूप से आत्मा व बुद्धि ज्ञान से प्रकाशित हो रही थी, लेकिन फिर भी एक (ईश्वर की याद में) बेकरारी, तड़प व टीसन थी।

वैराग्य आज अजीब सी स्थिति लिए हुये आश्रम से बहुत दूर—ऐसा प्रतीत होता था कि गति के रास्ते की ओर अग्रसर हो रहा हो—लेकिन अब उसके कदम सूनसान, बियाबान जंगल व आश्रम की ओर न जाकर—बढ़ रहे थे नगर व उसकी घमसान बस्ती की ओर। उसकी आत्मा बेचैन थी, उसका मन व्याकुल था, उसे किसी की तलाश थी।

तभी किसी की आवाज ने उसे चौंका दिया, "कहां जाना चाहते हो, किसकी तलाश है ?" वैराग्य को अजनबी की आवाज में अपनत्व महसूस हुआ। इससे पहिले कि वैराग्य कोई उत्तर देता अजनबी पुनः बोल उठा—"थके और बेचैन मालूम होते हो, आओ मेरे साथ।"

वैराग्य बिना कुछ कहे सरल भाव से उस अजनबी के पीछे चल दिया। वैराग्य का आशय वे समझ चुके थे फिर भी स्पष्ट मालूम किया। वैराग्य ने

अपनी कहानी बड़े अनमने मन से सुना डाली और फिर वही खोज.....। पर आज पहली बार उसे महसूस हो रहा था कि जिसकी उसे तलाश थी वह अब दूर नहीं। तभी उन सज्जन ने वैराग्य से कहा—"भाई ! बड़े नसीब वाले हो, आज अनायास तुम वहाँ पहुंच गये जहाँ तुम्हारी कामना पूर्ति होगी।" वैराग्य बोला कहाँ ? उन्होंने कहा, "चलना मेरे साथ, वहाँ जहाँ तुम्हें सत्य का साक्षात्कार होगा। तुम्हारी अतृप्त आत्मा की तृप्त होगी।"

पता नहीं क्यों उसकी जिज्ञासा पाने के लिए बढ़ती ही जा रही थी और उसे लगता था कि आज उसे अपने वास्तविक लक्ष्य प्राप्ति सम्भव प्रतीत हो रही थी। फिर भी वह अपने मन की असीम उत्कंठा न छुपा सका और पुनः पूछा कहाँ चलना होगा।

उन सज्जन ने बड़े ही सहज व सरल भाव से उत्तर दिया—"मिशन में" श्रद्धेय 'बाबू जी' के पास।

वैसे वह धर्म संस्थाओं से उकता चुका था क्योंकि धोखा जो खाया था, समय जो गंवाया था। पर 'बाबूजी' का नाम सुनते ही उसके हृदय में एक विचित्र प्रकार का कम्पन हुआ, एक बिजली सी कौंध गई—उसे ऐसा लगा जैसे की उसकी आत्मा को ठहराव मिल रहा है—और उसे उसकी मंज़िल मिल गई। पर उसी क्षण उसे शंका ने धर दबाया क्योंकि धोखा जो खाया था, समय जो गंवाया था।

शाम गये 'श्रद्धेय बाबू जी' के यहाँ पहुंचा। देखता ही रह गया। उसे अपनी आँखों पर यकीन न हो रहा था—उस महान् व्यक्तित्व को देखकर। वह नहीं सोच सकता था कि ऐसा प्रभावशाली व्यक्तित्व गृहस्थ आश्रम में हो सकता है। उस मकान के शान्त वातावरण ने उसके रोम-रोम को प्रफुल्लित कर दिया था। आज उसे वर्षों बाद अपनी माँ याद आई। जिसने कहा था—"ईश्वर की प्राप्ति गृहस्थ आश्रम में ही हो सकती है। ईश्वर का असली रूप गृहस्थ आश्रम में ही देखा जा सकता है।"

आज उसे सच्ची शान्ति प्राप्त हुई क्योंकि ईश्वर—सद्गुरू के द्वारा आत्मा का आह्वान जो हुआ। उसके सारे प्रश्न हल हो चुके थे, शंका लुप्त हो चुकी थी और उसकी आत्मा में अटल विश्वास और हृदय में प्रेम जाग्रत हो चुका था। ईश्वर प्राप्ति की क्षुधा बुझ चुकी थी—क्योंकि ईश्वर तो मिल चुका था और वह स्वयं ईश्वर की गोद में था।

आज उसे हंसी आ रही थी गेरुआ वस्त्र धारी बाबा पर और तरस आ रहा था सन्यासी पर।



# गुरु महिमा

( श्री गुंडे राव पटवारी नागवरकर 'साहित्य रत्न' हिन्दी विद्वान )

शायद ही संसार में ऐसा कोई देश होगा जो अपने गुरू को वह स्थान देता हो, जो भारतीय संस्कृति देती है।

ईश्वर नाम के साथ साथ हमारे हृदय में गुरू का स्थान बहुत ऊंचा है कबीर के विचारानुसार गुरू तो ईश्वर से बढ़ कर है, बिना गुरू की सहायता के परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

गुरू की कृपा ही आत्मा को परमात्मा से मिलने के रास्ते पर ले जाती है। अतएव गुरू जो अध्यात्मिक जीवन का पथ-प्रदर्शक है ईश्वर से अधिक आदरणीय है।

कबीर ने उस समय जब गुरू गोबिन्द दोनों खड़े थे, गुरू के चरणों को छूकर यह सिद्ध कर दिया कि गुरू ही सर्वश्रेष्ठ है और उसी गुरू ने ही कबीर को गोविन्द से मिलाया।

मेरा विचार है कि बिना गुरू के ईश्वर का ज्ञान नहीं होता। यह कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है ? अध्यात्मिक जीवन के लिए ऐसे गुरू की आवश्यकता है जो हमारे परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हों और हमें उस उस स्थान तक ले जाये जहाँ तक वह स्वयं पहुंच चुका हो ?

भारत के संतों का विचार वास्तव में सही है—"गुरू आत्मा और परमात्मा के मध्यस्थ हैं" यदि इस मध्यस्थता की आवश्यकता को भूल जायें तो मालूम नहीं कहाँ रास्ता भूल जायें ?

आज जब मैं गुरू महिमा पर अपने विचारों को प्रगट कर रहा हूँ तो मैं चाहता हूं कि उस वस्तु को भी आपके सम्मुख रखूं और उसे प्रकाशित करूं जिसको कबीर ने कहा था ?

कबीर ने इस प्रकार गुरू का परिचय दिया है कि—"वह गुरू धन्य है, जो पतित से पतित आत्मा को ज्ञानमय बनाकर पाप और पुण्य का बोध कराता है, उन्नति और अवनति का तात्पर्य है तथा आत्मा को प्रकाशित करने का क्या

साधन है ? गुरू पथ-प्रदर्शन का कार्य करें जब शिष्य अपना निर्दिष्ट मार्ग भूलकर रास्ता भटकता है वहाँ गुरू का कर्तव्य है कि उसको सहारा दें, जब शिष्य माया मोह मृगतृष्णा पर मुग्ध हो छल, कपट और झूठ से अपने जीवन को बांध लेता है, उस समय गुरू ही उसे उचित मार्ग पर ले आता है और ऐसा तेज शिष्य में भर देता है कि चारों तरफ उसको प्रकाश की छटा ही नजर आती है।

गुरुर्पिता गुरुर्माता गुरूर्देवो न संशयः।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वै प्रसेव्यते।

अब यह हमारा सौभाग्य है कि हमें ऐसा सद्गुरू मिल जावे।

सहज मार्ग की साधना-पद्धति हमें ऐसे ही स्तर पर ला खड़ा करती है कि आज इस पवित्र समय में हम सद्गुरू की प्राप्ति करके उनकी आज्ञानुसार चलकर मुक्त हो जायेंगे। मेरी यही प्रार्थना है कि हम सबको गुरू महिमा समझने की शक्ति दें, यही जीवन है। भगवान करे सदा भारत को ऐसे गुरुओं की सेवायें प्राप्त हों और हम सब मुक्त हो जावें।



# मनुष्य की समस्या

ईश्वर सहाय

मानव-जीवन की समस्या को पूर्णतयः समझ पाना कठिन है। यदि इस पर भलीभांति विचार किया जाये तो मालूम होगा कि मनुष्य जीवन में केवल दो ही वस्तुओं को चाहता है आराम और खुशी। इसके कुल विचार एवं कार्य इन्हीं दो इच्छाओं को लेकर ही होते हैं और जीवन भर वह इन्हीं की खोज में संलग्न रहता है तथा इसी के उपाय सोचता रहता है।

मनुष्य की यह इच्छायें स्वाभाविक भी हैं और इस लिहाज से यह गलत भी नहीं है। इसमें गलती केवल तब आ जाती है जब इन दोनों वस्तुओं का अर्थ वह सही नहीं समझता है। साधारणतयः आराम का अर्थ यह लगाया जाता है कि शरीर को परिश्रम एवं कष्ट से बचाना और खुशी का अर्थ यह लगाया जाता है कि हर बात अपने मन की रुचि के अनुसार होना। बस मनुष्य यहीं पर गल्ती करता है जिसके कारण यह एक कठिन समस्या बन जाती है।

परिश्रम से अपने आपको बचाने का अर्थ यह हुआ कि काहिली और सुस्ती को आदत बना लेना। इससे सम्भव है कि कुछ देर के लिये शरीर को आराम तो मिल जाये परन्तु आगे चलकर यही चीज रोग एवं दुख का कारण बन जाती है। इस प्रकार परिश्रम से बचना ही हमारे दुःख का कारण बन जाता है। अब रही खुशी की बात, मन के अनुसार हो सब बातों का पूर्ण होना है इच्छाओं की पूर्ति। इच्छाओं में अच्छी और बुरी दोनों ही सम्मिलित हैं, अतः हर इच्छा की पूर्ति कभी सुख या खुशी का कारण नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि इच्छाओं की पूर्ति हो जाने से इच्छाओं अथवा कामनाओं का अंत नहीं हो सकता है। एक की पूर्ति होते ही तुरन्त दूसरी इच्छा सामने आती है और इच्छा की पूर्ति असम्भव है। इस कारण इच्छाओं एवं कामनाओं का पूर्ण होना खुशी का कारण नहीं बन सकता है।

वास्तविक बात यह है कि सुख और दुख, आराम और कष्ट दोनों ही एक दूसरे पर आधारित हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। एक चीज का आभास एवं अनुभव हमें तभी प्राप्त होता है जबकि उसकी विरोधी चीज हमारे ख्याल में मौजूद है। दोनों ही चीजें परस्पर साथ ही हैं और किसी भी एक दूसरे से भिन्न नहीं हो सकतीं। यह एक ही चीज के दो मुख्य अंग हैं जो भिन्न स्तर पर, भिन्न दृष्टिकोण बना लेने से ही भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्ण रूप से एक से छुटकारा और दूसरे की प्राप्ति व्यर्थ की बात है, और केवल मन की कला का तमाशा

मात्र है। दूसरी बात यह भी है जैसा कि हम जानते हैं कि हमारा संसार में आना केवल संस्कारों के भोग का ही परिणाम है और इसमें अच्छे बुरे दोनों ही संस्कार सम्मिलित हैं। अच्छ संस्कारों का परिणाम आराम एवं खुशी है और बुरे संस्कारों का परिणाम दुःख एवं कष्ट होता है इसलिये समय-समय पर इन दोनों चीजों का हमारे सन्मुख आते रहना आवश्यक है। किसी एक से भी पूर्णरूप से छुटकारा पाना असंभव है।

जब यह बात है तो फिर सुख और आनन्द एवं परम सुख और परमानन्द, जिसका वर्णन हमारे धार्मिक ग्रंथ करते हैं वह क्या वस्तु है। यह सत्य है कि हमारे धार्मिक सुख और आनन्द की दशा को प्राप्त करने को प्रेरित करते हैं परन्तु इच्छा अर्थ यह नहीं हुआ जैसाकि हम समझते हैं। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि हमें उस दशा को प्राप्त करना है कि जहाँ पर सुख, दुख, कष्ट और आराम का भान न हो और हमारा मन उसमें लिप्त न हो सके बल्कि यह दोनों के प्रभाव से मुक्त रह सकें। या यों कहें कि यह एक समान गति में ही रहे। वास्तव में जिस सुख और दुख के विषय में कहा गया है वह यही दशा है और इसी दशा में पूर्ण रूप से स्थिरता प्राप्त कर लेना ही परम सुख अथवा परमानन्द की अवस्था है और यह ऐसी दशा है कि जो आध्यात्मिक क्षेत्र में बहुत उन्नति करने पर प्राप्त होती है। किन्तु यही अन्त नहीं है इसे तो अभी प्रारम्भिक-चरण ही कहना उचित है या यों समझ लीजिये कि वास्तव में यहीं से हमारी आध्यात्मिक-यात्रा का प्रारम्भ होता है। आश्चर्य है कि लोग इसी को लक्ष्य समझ लेते हैं और जीवन भर इसी में उलझे रहते हैं।

ईश्वर-दर्शन का मामला भी बहुत विचित्र है और बहुधा लोग इसी उद्देश्य को लेकर चलते हैं और समझते हैं कि दर्शन हो गया तो बस काम बन गया। दर्शन के अर्थ वे यह लगाते हैं कि भगवान का एक कल्पित रूप जो उन्होंने मान रखा है उनकी दृष्टि के सम्मुख आ जावे और हम उसको देखकर ही खुश हो लें। बड़े आश्चर्य की बात है कि जब हम ईश्वर को निराकार मानते हैं तब फिर रूप-दर्शन के क्या अर्थ हुए। जिसका रूप ही नहीं नहीं उसका दर्शन कैसा ? अतिरिक्त इसके कि एक मनगढ़न्त विचार बना लें। ऐसा भी होता है कि गहन-विचार बना लेने पर आकार दृष्टि के सामने आ तो जाता है परन्तु यह केवल अपने मन का खेल हो जाता है वास्तविक चीज नहीं हो सकती इसलिए वास्तविकता से हम दूर ही रह गये। दूसरी बात यह भी है कि जब हमने अपने उद्देश्य को स्थूलता में बाँध दिया तो सूक्ष्म दशा को प्राप्त करने का प्रश्न ही कहां रहा। हम इसी प्रकार से स्थूलता के घेरे में ही चक्कर लगाते रहे और मन-गढ़न्त विचारों के जाल में उलझते रहे। ईश्वर-प्राप्ति का ऐसा अर्थ लगाने वालों का बस ईश्वर ही मालिक है।

बहुधा लोग शान्ति प्राप्ति के पीछे लगे रहते हैं और समझते हैं कि यदि यह



चीज मिल गयी तो कार्य सिद्ध हो गया। अन्य शब्दों में शान्ति-प्राप्ति को ही ईश्वर प्राप्ति समझ लेते हैं। यह केवल धोखा ही है और शान्ति का अर्थ विचारों को दबा देना या मन की गति को थोड़ी देर को रोक देना ही शान्ति समझते हैं परन्तु यह बिल्कुल गलत है। शान्ति की वास्तविक दशा तो यही कही जा सकती है कि जिसमें बाह्य-प्रभावों से मुक्त रहे और हर अच्छी बुरी चीज मन पर से ऐसे गुजर जाये जैसे चिकने घड़े पर से पानी। शान्ति की अवस्था अभ्यास के परिणाम स्वरूप ही पैदा होती है इसके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। यदि इसको उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाये तो यह केवल बनावटी ही रहेगी। जो लोग शान्ति शान्ति के पीछे पड़े रहते हैं सम्भव है कि उन्हें शांति की प्राप्ति हो जावे परन्तु ईश्वर प्राप्ति तो नितान्त असम्भव है क्योंकि उन्होंने ईश्वर से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखा केवल शान्ति ही को लक्ष्य बनाया है। इस प्रकार उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हुयी हाँ इतना अवश्य है कि कुछ आराम से कटने लगी। वास्तव में सुख, शान्ति एवं आनन्द यह सब केवल मार्ग की ही वस्तुयें हैं और लक्ष्य तक पहुंचने के प्रथम ही समाप्त हो जाती है। फिर वहाँ क्या है ? लगभग सतुलन की दशा वश यही अन्तिम लक्ष्य अथवा ध्येय है। खेद की बात कि इस वास्तविक चीज की ओर से दृष्टि हटाकर लोग ईश्वर-प्राप्ति को केवल अपने दिल बहलाव का साधनमात्र समझते हैं और जीवन भर उसमें ही उलझे रहते हैं। यह तो केवल मनोरंजन ही रहा हमारे श्री बाबू जी महाराज का तो यह कहना है—"जिस प्रकार बच्चों के लिये खेल-कूद, पहलवानों के लिये परिश्रम एवं व्यायाम, विद्वानों के लिये अध्ययन उनके दिल-बहलाव के साधन हैं इसी प्रकार पुजारियों के लिये पूजा-पाठ, भक्तों के लिये भक्ति, ज्ञानियों के लिये ज्ञान-चर्चा, सिद्धों के लिये सिद्धियां एवं वैरागियों के लिये जंगल और एकांतवास केवल दिल बहलाव एवं मनोरंजन के साधन हैं। वास्तविकता का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः सबसे पहले हमें यही विचार करना है कि हमें प्राप्त क्या करना है अथवा कहाँ पहुंचना है ! जब तक इस बात का निर्णय नहीं हो जाता हमारी समस्या का कोई सुलझाव नहीं हो सकता।

इस बात का निर्णय करने के लिये हमें अपना दृष्टिकोण विशिष्ट बनाना होगा। हमारे जीवन का प्रारम्भ हुआ, भाँति-भाँति की कठिनाइयाँ, दुःख, सुख, आराम, कष्टों में से गुजर कर जीवन व्यतीत हुआ। अंत में शरीर त्याग कर संसार से जाना पड़ा। क्या इतने ही में हमारे अस्तित्व का दौर समाप्त हो गया ? कदापि नहीं विकास क्रम चलता यह एक प्राकृतिक नियम है और सृष्टि-निर्माण का आधार है और यह बराबर क्रियाशील है। उदाहरणार्थ एक वृक्ष उगता है, बढ़ा होता है एवं फलता, फूलता है तथा कुछ काल के बाद समाप्त हो जाता है तो क्या इसका अस्तित्व विनष्ट हो गया ? कदापि नहीं ! वे सब परमाणु जो उसके सृजन का कारण बने थे फिर भी शेष रहे और उसी विकास क्रम के अनुसार क्रियाशील होकर उसका पुनर्निर्माण हुआ। यही बनना बिगड़ना बराबर

चलता रहा। इसी प्रकार मनुष्य की मृत्यु के बाद भी वे ही परमाणु पुनः उसके निर्माण का कारण बन गये और मनुष्य पुन पुनः जीवन मरण के चक्र में घूमता रहा। यही क्रम न जाने कब से चलता आ रहा है और न जाने कब तक चलता रहेगा। इससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि हमारी समस्या केवल हमारी वर्तमान जिन्दगी तक ही सीमित नहीं है बल्कि आगे आने वाले असंख्य जिन्दगी तक फैली हुयी है एवं इसके सुलझाव के लिये हमें इस कुल विषय पर विचार करना होगा। अब हमें सबसे पहले यही विचार करना है कि पुनः पुनः जीवन मरण के झमेले से कैसे मुक्त हों।

हमें संसार में पुनः लाने वाली चीज केवल हमारे संस्कार हैं। इससे मुक्त होने के लिये यही आवश्यक है कि हम अपने संस्कारों के जोर को समाप्त करें। यह इसी प्रकार हो सकता है कि प्रथम तो हम नये संस्कारों का बनना बंद कर दें और संस्कारों के प्राचीन बातें को भोग द्वारा समाप्त करें। सहज-मार्ग में प्रारम्भ से ही इसी ओर ध्यान दिया जाता है।

यदि हम प्रत्येक दैनिक कार्य को केवल कर्तव्य मात्र मानकर ईश्वर की आज्ञा मात्र समझ कर ही करें तो नवीन संस्कार बनना बन्द हो जायेगा। प्राचीन संस्कारों का भोग वैसे तो जीवन भर चलता ही रहता है किन्तु गुरु-कृपा द्वारा बहुत ही थोड़े से समय में और बहुत कम होकर समाप्त हो जाता है। इस प्रकार हम आवागमन के झमेले से छूट जाते हैं परन्तु वास्तविकता तो अब भी दूर है। यह तो स्थूलता के केवल बाह्य-आवरण से ही छुटकारा हुआ है अभी न जाने इस प्रकार के स्थूल एवं सूक्ष्म कितने आवरण और शेष हैं।

ईश्वर-प्राप्ति का वास्तविक अर्थ तो यह है कि वे गुण एवं properties जो ईश्वर में मान गये हैं वे अपने अन्दर पैदा कर लें अर्थात् जहाँ तक हो सके उससे समानता अथवा एकता पैदा कर लें और उसी के समान सूक्ष्मता की अन्तिम सीमा को प्राप्त कर लें जितनी कि मनुष्य-शक्ति के अन्तर्गत है। बाह्य तौर पर तो मनुष्य स्थूलता का ही पुतला बना हुआ है यद्यपि उसमें मानव-तत्व प्रधान और जोरदार है परन्तु साथ ही साथ ईश्वरीय-तत्व भी मौजूद है और दोनों का बढ़ाव साथ ही साथ चलता है। मनुष्यत्व के परिणाम स्वरूप उसके कुल कार्य और विचार स्थूलता के प्रभाव में डूबे रहते हैं और यही चीज हर समय उसके विचार में रहती है इसलिए स्थूलता का प्रभाव और भी गहन और शक्तिमान होता जाता है। परिणाम यह होता है कि ईश्वरीय तत्व का प्रभाव हल्का और फीका पड़ता जाता है। दूसरे अर्थ में वह ईश्वर से दूर होता जाता है एवं माया, मोह, लोभ आदि के घने जाल में उलझता जाता है। अब इस जंजाल से छूटने का केवल एक ही उपाय है और वह यह है कि हम अपने अन्दर ईश्वरीय धारा के प्रभाव को तेज और शक्तिशाली बना दें जिसके प्रभाव से मानव-तत्व की धारा स्वतः ही ठिकाने पर आ जावे। दोनों में सामन्जस्य एवं सन्तुलन स्थापित होकर दोनों ही अपने-अपने स्थान पर यथोचित कार्य करने लगें। सहज-मार्ग की साधना-पद्धति इसी ढंग पर निहित है।



# *Sahaj Marg - A Dynamical Path*

*(Speech of Sri Ram Chandra Ji, President, Shri Ram Chandra Mission, Shahjahanpur, at Banglore, on 23rd December, 1964.*

Man's persistent effort has been to unravel the mystery of Nature and it has widened the frontiers of knowledge. And so his probe into everything that he sees in Nature continues. When we seek anything we find something for our thinking and when we go beyond it we find mystery behind the mystery. When the thinking itself takes the further evolution it leads us to what is behind everything. Our ancients when peeped into it, went direct to find the efficient cause of the world, relation between man and God, and static and dynamical value of the things representing the Nature. If we really peep into it we find the constructive and destructive powers in the form of atoms and cells. Power arcs are also there. Positive and negative cells are there giving full description of their existence. Our sages felt themselves pledged to utilise all these powers looking like mystery, in the constructive work. They even went beyond everything, which has been the result of some movements being the cause of all the existence. When we go to this extent we find the center and its region giving us the knowledge of their existence. Now we proceed on. What is there above and below it ? We see everything tending towards the centre and the centre itself yawning

towards the circumference. After our adventure we initiated the value of our existence and felt the co-operation of the highest power that is around us. Now this was the main current of our thinking, which diverted our attention to the main theme that is being played. Gradually we could know the function of the movement in the human body. The way is made open to lead up to the central region. In my opinion we have solved the mystery if somehow we are able to solve our problem of life. When we visualise ourselves we find that man is an epitomy of the universe. This added to our advancement and we have begun to study our own centres and their motions and work, and the functions of the human mind and body. The power we have got in us can also be utilised for the destructive purpose, but owing to the sacred pledge of our ancients we neglect it altogether and we utilise it in the transformation of man. If we really peep into the constructive side we get side by side the destructive things as well. And neutrals are also there, which is yet to be explored by the scientists. Since we have no concern with these things we leave them. We come to the constructive side. When we peep into us with this idea we find the higher centres focussing into our centres but due to our wrong thinking and doings the effect is not coming in at all. Over centres the thick layer of grossness has settled so firmly as to make them quite impervious. There are so many centres in the human body whose working is also spiritual and worldly. Research is necessary to know all these things for the common good of mankind. It is said that it has been a subject for the weak who do not want to pace further to direct their energy for the



material uplift of mankind. Thus the spirituality is attacked by many of us giving examples of the present day civilisations who have gone with unlimited space of materialism making themselves as limited, because they attempt for only the finite and afterwards they fall off. The idea should be to proceed from the finite to the Infinite. It should be the idea that we should also make the finite to be merged into the Infinite. In other words the finiteness should be glittering first then we can proceed towards the base. And what is finiteness ? The centre among us have lost the capacity of grasping the Infinite and the Sahaj Marga stands for it and makes possible to do their duty the way the finiteness demands and to proceed along-side towards the Infinite. It reveals to us the duty as the foremost thing. So we should correct both the things, that is, we should fly with both the wings. If we attempt for the finite alone we proceed with unsound base. We should attempt finite for the Infiite. For this, dynamic methods should be adopted. And what can be those methods ? Only those which introduce from the very beginning the character of the Infinite. I shall be very grateful to the audience if they ponder a little over this sentence.

This can be best introduced by those who have imbibed the real characteristic within their own centres, who know how to draw in the power and piety from the higher centres to the lower ones who can transmit the effect into the abhyasi so that they may adopt the same character. For this a strong dynamical hand is always necessary. As long as we do not remove grossness settled in our centres, the grace or

effect of higher centres remains far apart due to the grossness and complexities we have made. The Sahaj Marg recommends the method for the cleaning of the centres and the master himself does it through the process of transmission. As long as the abhasi is not getting the Grace direct, the teacher diverts the Grace coming directly upon himself.

I have already mentioned about the forces of nature and the power arcs. They are all utilised for the transformation of man in the way it is required. We proceed with meditation on the heart thinking of the divine light within and by so doing we gradually begin to rise, or to express it better, to dive deep into the inner consciousness with the result that an abhyasi begins to feel to expand (this being the first phase). That means we have sown the seed of Infinity, or in other words we have revived the thing slipped from our view.

Now the second phase opens to view. A man feels the presence of God in every animate object. The third thing we feel is changing feature of this very thing. This above thing is changed and one feels every thing as from God and as His manifestation. The fourth brings in a way the state of negation which ultimately we are to have. We find uniformity in every atom and objects. Every body passes through these lines if the method is correct and the guide is perfect. As we proceed on to the next region these things are rarefied, till we reach the Brahmanda Mandal. There too these things go on but they are discernable in finer colours. If the teacher is not perfect there can be the danger of getting absorbed in the powers which are not concerned with spirituality.



The work of the teacher goes on and on to the final limit. I have discussed about the work of the abhyasi and that of the Master, not touching the technique of the sytem which the master adopts for the higher approach of the mankind, the centres of the heart through which the guide works and the method adopted to regulate the mind and the senses. The abhyasi's part is to be perfectly obedient to the master. I mean to say that he should comply with the directions given to him, having faith or at least trust (if not faith) in the master and confidence in himself. We have to search for such a good master, who has his approach to the final limit. It is very difficult to find such a master and in the words of the Upanishads it is equally difficult to find a disciple. But if burning desire is there for realisation the master will reach his own door. Trust and distrust are the two things and both things are necessary. But what we generally do is that we trust where distrust is needed and distrust where trust is needed.

In the end I would emphasise that realisation is not at all difficult for those who really seek for it, I mean those who have the real craving for it. If craving is there he will come on the true path by which realisation can be achieved in a short time. The real craving of man keeps him in constant restlessness and he works only to gain his real goal. While so many of us worship God and offer prayer as a routine, it is only to please our senses. In this sphere mental enjoyment is there, sense enjoyment is there and they are caught up by so many enjoyments which forbid to peep further into the life meant for realisation.

# A New Pilgrimage

*by Shri Mragesh, M. A. B. T.*

Humanity of today seeks serenity, peace and happiness in materialism but the consequences of materialism are quite contrary to the expectations of human beings. Peace and materialism, in reality have east and west difference. Both are two opposite ends which can never be brought together. To trace out peace in material objects is just as to invest physical energies in vain to extract oil from the sand.

The present era in which we breathe is quite reverse and different to previous ages. There has become a vast difference between the two. This apparent distinction exists by dirt of the intervention of the scientific inventions. Science has presented us innumerable things of physical comfort and is still striving to make our life happy and peaceful. It is an admitted fact that science, inspite of her wonderful inventions, has been totally unsuccessful in affording peace to mankind. The world of today is sitting on the destructive and poisonous explosive Atom Bombs. At any time we may lose our existence. So our condition has become worse than before. The more science is adding lustre to the physical comforts, the more we are going away from the peace. What is peace? Where it can be traced out? Is it available in thc material objects which we have stored around us? These are the few questions which captivate our attention for



pondering over them. One thing is quite certain that real peace cannot be traced out in material pursuits. Peace is an outcome of a balanced mental state. Now how we can achieve it? We can achieve not through materialism but through spiritualism. Both are the terms quite opposite to each other. The way of peace and bliss which was shown by our learned saints and sages is being ignored by all of us in the material pursuits which can never balance our disturbed state of mind, give peace and show the path of reality.

Our land has been a land of spiritualism. We believe in the doctrine of unity in diversity, in the conception of a world family.

Spiritualism, only, can render real peace. It is a real path which goes to the abode of peace and which has been neglected by us being blind in the miracles of science. Most of us even do not believe in the existence of the Almighty power.

Our forefathers dedicated their lives in spiritual researches and in finding out new ways or 'Sadhana Padhatis' but it is a matter of regret that most of the ways are now blocked due to unworthy successors who are unable to explain their way either correctly or clearly. They give no practical teaching. The man of today is much puzzled and perplexed in the hands of such guides. They misguide their followers. These professional miracle-mongers have misguided and are, still misguiding human-beings on wrong channels. So in a huge throw of competitive, self-recommending false guides of religion, one finds himself perplexed in recog-

nising and choosing a worthy man for his guidance, to one whom he may call 'Guru' in real sense.

Fortunately without any effort we have got a worthy guide in Shri Ram Chandra Ji, President Shri Ram Chandra Mission who, not depending merely upon books, has stored a vast fund of spiritual knowledge through his life long experiences. His spiritual attainments are beyond esteemation. But outwardly, he being in a worldly life, one may hardly believe him to be a personalty of such highest calibre, at the first glance. The very environment of his place of residence fills with in our hearts a memory of the sacred 'Ashrams' of the Vedic sages. The cool calmness of the place is undiscribable. His entire living presents to us an ideal life of coordination of the Spiritual and the worldly.

The system of Sadhana known as Sahaj Marga which he has introduced in to the world is unique. It is quite simple and easy and free from all outer impositions and showy formalities.

This 'Marga' gives privrity to worldly affairs but forbids undue attachments in them. Detachment in attachment is its nut-shell philosophy. It is a practical school of thought. In this system a worthy teacher and a worthy taught is needed. Here an 'abhyasi' or an aspirant of truth derives the spiritual impulse through transmission from the elevated soul of the master. Transmission makes the path of an Abhyasi easy. This i. e. yogic transmission or Pranahuti, is not a new thing. Ancient sages and yogies used to exercise it on the suitable occasions. We find so many



examples of transmission being used by our ancesters. Yogiraj Krishna had exercised it on Arjun in the battlefield. Shri Rama had exercised on Tara the wife of Bali after her husband's death.

So the process is a long familiar one but in the middle ages it could not sustain its due place due to the unworthy teachers of religion. Transmission is a process of elimination of the evil and the undesirable impressions received by the soul in the long circle of life and death. Transmission guides us to subtleness which is our original state. A guide through the power of transmission can lift an abhyasi to any extent he desires. This system is adaptable in daily routine of life. This is a short route for attainment of Ultimate.

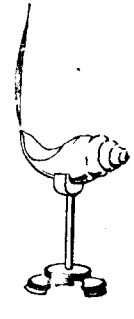

# THE FORCELESS FORCE

*by Shri Ishwar Sahai*

This seems to be a peculiar term. The Master Shri Ram Chandra Ji, the president of the Shri Ram Chandra Mission has used the term in reference to the Divine energy at work in Nature. Apparently it seems to be a strange expression, which at the material level might appear to have no meaning at all. But that is not exactly the case. The term is meaningful and has its own significance.

Force, as the chief motivating energy of the Centre, stirs up action by the effect of the Divine will. The stir turns force into power which starts its action forth with. Thus the Power leads to action, but action is also said to have its own power, and as power it must again bring forth a subsequent action. Thus power resulting in action and action again in its turn resulting in power is the usual routine working all through in nature, each being at the same time both the cause and the effect.

But power needs a material base for its action. The action may in that sence be taken as combination of Power and Matter. But since action too develops into power, the power also must be presumed to be amalgamated with matter. In that sense power must also be treated as of a material nature. But that may not be



in agreement with the current view of the modern science which does not accept power to be some thing of material nature because of the reason that it is devoid of substance. No doubt matter does appear to view in the form of substance and that substance does have mass as well volume. But that does not mean that anything devoid of substance can never be taken a matter or is beyond the range of matter or in other words matter can have no existance with out substance as its base. Now substance possesses a physical form, which is subject to change and finally to dissolution. But though it dissolves, the matter as the root of substance remains intact even then but in the finer-most form of subtleness. Along with the change of the physical form of the substance, the mass and volume must also undergo change proceeding towards more and more of subtlenesss, till at the final level or the Zero-point the matter gets converted into power and finally into force. There it has no action and no activity. Hence the application of the term, 'Forceless Force' at that level of subtleness is nearest to appropriateness. That is in fact the real characteristic of the Divine which is the ultimate base of every thing in existence and which in the Efficacy of Rajyoga has been expressed as the Centre or the Zero-point. This is what one aspires for under the system of Sahaj Marga. This forceless force, silent and inactive, is the root of power and energy which subsequently comes into being by the effect of the stimulus offered by the Divine Will.

Under the Sahaj Marga System the abhyasi proceeds on with his mind fixed upon that final point, the Centre or the Base, which is absolutely action-less.

But to most of the followers of the Yoga, success in the pursuit is judged by the attainment of powers, yogic of course as they say. The attainment of power is for that reason treated as the criterion of yoga and one having even some of it is accepted as a yogi. Power as I have already hinted is associated with matter. Hence if the attainment of power is the object of the pursuit that means the pursuer does not mean to go beyond the range of matter or likes to remain confined within the sphere of materiality. His access upto the level of Divinity is therefore out of question.

Besides it can not however be denied that the powers (yogic though they may be declared as) are exclusively physical in character and not the least of the Divine nature. Besides the purpose of having them is also perhaps no other than, desire for demonstration in order to pursuade people to accept them as great saints or yogi. It is in this respect the worst misinterpretation of 'Power'. The power, (if it can at all be expressed as such) developed in the natural course by the practice of yoga is something similar to the Divine force which is characterised as Forceless. Hence it can not at all be treated as power in the ordinary sense of the word.

The divine impulse, sought for by a sadhak comprises of the same Forceless Force. In Sahaj Marga it is infused into the abhyasi through the yogic process of Pranahuti. So it is but natural in the beginning for an abhyasi to think that he feels nothing, or that he finds no perceptible effect of Pranahuti upon himself. One of the reasons for this may also perhaps be his



wrong conception of Pranahuti as some force or energy, which upon entering into the body might bring out some remarkably perceptible action in him. In the real sense Pranahuti has no relation with force or power of any kind. It is neither like steam, nor electric, nor any other kind of power which might create some activity, motion or viberation in their body. It is as a matter of fact something similar in nature to the force less Force of the Divine which serves as the generator of every thing required for the man's expansion. But that is a matter of practical experience for every individual. This experience is not like that of laboratory experiment of a sceintist to discover the physical properties of a thing but it is something much finer and subtler relating directly with the tendencies of his mind. What in short he has to feel and experience, by way of Pranahuti's effect is only a gradual introduction of reform and regulation needed for the purpose.

There is no wrong in man except for the unregulated and immoderate activities of the senses and faculties. The Pranahuti directly affects their gradual remodelling so as to restore in them proper regulation and adjustment. The Forceless Force transmitted into the abhyasi begins to play its part silently and imperceptibly for his transformation. The effect though unfailing, does often pass off unnoticed in the beginning because of one's eager expectations to witness some mental vision or to feel some remarkable physical or mental change in him. With his mind fixed rigidly upon this thought, he never pays any attention to the finer effect caused upon his mental tendencies or the

gradual growth of calmness and poise in his mind. In short he neglects to trace out by way of its effect that which he must, and remains hankering after that which is not and must not be. It is mostly the case with those who remain ever after seeking for some mental pleasure or charm, having taken up the divine for a mere pretex.

It is therefore necessary for one to have in his mind a well defined purpose for which he means to undertake the pursuit. The impulse carried into the heart of the abhyasi through Pranahuti, being of divine character, is also similarly subtle and forceless. But forcelessness being itself the root-force, the impulse is highly potential. In fact it lays the seed of spirituality, which goes on growing and developing by the effect of further transmissions and of one's own abhyas. The real merit of Pranahuti lies not in its being forceful, exciting and thrilling, but in its being calm, silent and unstirring. Only then can it be most effective in bringing about the state of moderation, regulation and balance, essential for our ultimate purpose.

# *The Highest Level of Our Being*

*by Sri Raghavendra Rao, B. Sc., B. E., M. I. S. E.*

It is our natural urge to rise to the higher levels of our being. We put in great effort to fulfil our urge. But due to one reason or other our viewpoint regarding the higher levels of being goes on shifting. As a result of this we find ourselves drifting. And finally we fall a prey to a sense of impotency, incapacity, dejection, frustration or even skepticism.

Careful thinking and a decissive take off will take us sufficiently far in the realm of sublimity. And if we are fortunate enough in choosing for our help a worthy and capable person who is permanently residing in the highest level of being our attaining the goal of human life in a very short time becomes certain.

Due to inner solidity and grossness and lack of correct mental training, our view is often fixed on solid and gross things and on a distorted image of the world. We lose sight of the essentials and look to only the superfluities with the result that fickleness and and uncertainity become the basis of our entire thinking. Inner struggle, friction and loss of energy are the outcome. And we lose the faculty of grasping or even viewing the subtler and the higher states.

A comfortable worldly life, no doubt, is our first necessity. But if we confuse luxury with comfort there will be no hope for us to rise to a higher level of our be-

ing. All our efforts would then, be directed to gather and increase the luxury articles for the gratification of our senses and mental fancies. Non-fulfilment of desires brings in anger and loss of discrimination, and finally will ruin us.

When the thought that our present life is, after all, a means to attain a higher goal, takes firm hold of us we enter a higher level of being than that of an animal. Our vision expands to such an extent as to comprehend an all pervasive essence in the entire existence. A scientist may call this as "energy", another the "space-time continuum"; a philosopher may call it as "pure existence", another the "metaphysical substance"; or a religionist may call it "God" or "Allah". But this much is certain: everyone who has had a comprehension of this all prevading essence will be ready to sacrifice all his worldly luxuries in contemplation of this.

At this stage various convincing scientific theories, philosophic speculations or religious doctrines emerge and the propounders of these are greatly honoured and worshipped. But as this is still a lower level of being as compared with the higher ones, some daring persons abandoned even these lower states to rise to those higher ones.

Now, only Raja Yog and a Samarath Guru can help us to march onwards. Otherwise we are likely to get stuck up in one lane or another bye-lane of that immensely charming wonderland of the all-pervading Maya- Firm intellectual convictions and deep devotional emotions are too strong to be easily got rid of. They are extremely pleasant too. That they are not



the ultimate goal is certain as proved by the lives of those who have reached still high levels of being.

If we receive the powerful transmission of a Samarth Guru and try to comprehend the next higher level, we may, in the beginning, feel at a loss to know anything. But if we have developed sensitivity by doing proper practice we may come to the real source of all this existence. We can then really undrstand the meaning of the words "VIRAT" "SATCHIDANANDA" or "ISHWARA". A condition of utter calmness and tranquility may be experienced. The "SAKSHI", "ATMAN" or the "Essence" may be "touched". But this is not yet the highest condition, although immensely superior, as proclaimed by those who have reched the Highest.

When we go beyond these changing conditions, from subtler to still subtler states, a stage comes when all the shackles are loosened and we become free and liberated from the bondages of Maya. Even then there remain the still subtler and finer stages of egoism which have to be crossed over. After that we enter the central region of pure Divine Light.

Sri Ramchanderji Maharaj of Shahjahanpur has beutifully indicated these different states and has explained them in an easy and simple way, in his books "EFFICACY OF RAJ YOG IN THE LIGHT OF SAHAJ MARG", "REALITY AT DAWN", "ANANT KI OR" etc. It is left to us to fix up our goal, namely, to attain the highest level of being and to permanently reside in That; and to proceed on the right path with faith, courage and determination.

# Speach at the Basant Utsava at Shahjahanpur 1965.

*(Sri C. A. Rajgopalachari, Madras)*

It is indeed a unique opportunity for me to share my feelings of joy with all of you, on the 'Basant Panchami Day', when the Birthday of our Grand Master is celebrated. It is not merely a celebration. There is something more in this. Master's Spiritual Treasure House is kept open for these three full days night and day every year, during this period and He is welcoming everybody to take or 'lost' (in his own words) as much as possible from Him.

I have come only for this purpose but unfortunately we have only a limited capacity in us, and we feel sorry that we are unable to carry more. I pray unto Master to give me more strength also to loot.

On this sacred day allow me to speak out my heart. It was in December 1959 that I met Master for the first time and that too accidentally, to my good fortune. I must tell you that I took my second birth just then, I became a Dwija, in the real sense, and that I consider as the time of my Upanayana.

How fortunate I am to-day that I am enjoying the company of so many Satsanghis from different parts of our country. I am grateful to my Master for showering His blessings upon me. There is a touch of Divinity in this.



ईशावास्यं इदं सर्वं
यात्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:
मा गृध: कस्य स्विद्धनम् ॥

So starts the first of the verses in one of our principal Upnishads ईसावास्यं. God is all-pervassive. Most of us feel that there is some unseen, supreme power behind this universe. We may not try to know or realise That. Great Pandits might wax eloquently, interpreting the sayings in the Vedas and Upanishads, according to their level of knowledge. We need not bother about understanding their dialectics in that dreary subject of Metaphysics or high-sounding philosophy. What we lay people, who are aspirants, want is a simple path to understand and realise the Simplest, that is supposed to be all pervassive, that is within everyone of us.

The great sages of the Upanishadic period in our Punya Bhoomi, where Avatars and Acharyas have condescended to come down to lift us up the descent of the Divinity for the ascent of humanity were in no way less intelligents than the moderns. In fact their observations and enjoyments in this world were much greater than ours. They had no pressing problems. Their longevity was longer. Nature was bountiful. Their tempo of life was not as tense as in this atomic age. So they had ample leisure and scope for thinking about the real problems of life. Places of solitude were also available side by side their Ashrams. Mind you, in their ashrams the great Rishis were not living alone. They had not run away from life and life's problems. They were with their wives and children,

disciples and admirers. Each Maharshis' place was a University by itself, where learned people flocked, and to which place kings and rich people vied with each other in sending their sons for education and training, so that they can face the problems of their lives squarely, instead of being tempted to run away like cowards. Every man was expected to lead a full life.

So from this background we must try to know what the great sages had expressed about the ultimate. Of course each one had described the Brahman according to his level of experience. We need not discuss which sage has reached which stage. This is not our purpose. We just want to know what had they expressed in their clear resonant voice. It was not the voice of conversion from one faith to another, but it was an appeal to all humanity in this world, irrespective of their caste creed or colour, to share their ecstasy or experience.

What is Brahman ? How does it look like ? Can we touch feel it ? Is it a thing that can be seen or it can be only felt or experienced ? So will ask the common people like us.

एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म । says a Upanishad.
Brahman is only one, without a second.
Another says:

न तत्र सूर्यो भाति, न शशांकः, न च तारकाः ।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।

The Sun does not shine there, nor the moon, not even the stars. Does it mean then that Brahman is absolute darkness ? How can it be ? Because the next sentence says that 'By whose भाक् the Sun, the moon, stars and all the other things shine--यस्य भासा सर्वमिद विभाति ।



According to our Shastras Surya represents soul, pran or life and also Intelligence. In Ramayana it is mentioned that Hanuman studied all Vedas and Shastras under Sun-God. Moon represents mind-Manas. तारका means' pupil of the physical eye. So it is now easy to understand what is meant by न तत्र सूर्यो भाति etc. That is Brahman transcends body, mind and intellect. He cannot be perceived by any of these. It is said Vedas have returned being unable to define God—यतो वाचो निवर्तन्ते . Vedas tried to define Him in negative only नेति नेति . Brahman cannot be percieved even by mind or Manas -अप्राप्य मनसासह । The sayings in Upnishads are couched in beautiful diction, pregnant with meaning, containing common, day-to-day Upmanas or similies and examples.

Now these shining objects, life-giving objects, life-sustaining objects and life-taking objects get their shine or lustre or power from that One Brahman. He is not Raje or matter alone. He is not prana or energy alone, because he has created both. Since he has created both. He cannot be either, but should be both or above or beyond both. Similarly He is not light alone, because he has created light. He is not darkness alone because He has created it. So He is both light and darkdess and He is neither light nor darkness. Now just imagine what can be the combination of light and darkness, their meeting point-can we call it 'Grey'. When does that state come into this world ? If only we minutely observe, we know it comes at the time of Ushas—Dawn, every day. Please note that it is a balanced state of Nature. It is at this time every day we are to perform our Puja-Meditation,

when God Himself by revealing His Reality at Dawn, enables us to reach the goal. That is why our Master says that Brahman is neither light nor darkness, but grey. That is why perhaps, Master has named His book the quintessence of his wisdom as 'Reality at Dawn.' This is one of the ways that I understand His book.

So, brothers and sisters, we now come to a stage of fixing up our goal. What that goal should be ? It should really be the Highest, the real goal of human life, as is mentiened in our prayer. The Indefinable, omnipotent, omnipresent, omiscient Divine, the Para Brahman, the Bhuma should be our goal. Master has been really kind to fix that goal for every Abhyasi. He does not agree to anything short of it.

It may be argued that why we should not worship gods of lower levels and through them approach the Highest. I may invite the kind attention of my brothers and sisters to a varse in Gita, said by Lord Krishna Himself.

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

It amounts to this :

If you worship me as a smaller god, I accept it as a smaller god only. If you worship me as a limited one, I take you only to that level. Similarly, if you worship me as para Brahman, the Highest, I take you to that level. That is what he means by तथैव भजाम्यहम् ।

So God has given that freedom of choosing the goal to the soul. Alongwith that He has also given intellect to the human being. So by using this भी we must decide which should be our goal.

Having thus fixed the goal we must find out ways and means of reaching that goal. Many highly deve-



loped souls have prescribed and followed many paths-Bhakthi, Jnana and Karma yogas or margas, over which later day commentators have spent their entire lives (without achieving the goal), in arguing and writing voluminous books only. After all, our aim is to reach the Goal fixed, through an easy, practicable path, suitable to the modern conditions of life. Then nobody can deny the ' Raja Yoga', as profounded and amended one. The name of the method itself is 'Raja yoga', the 'king of yogas'. We always view with awe and grandeaur the splendour and dignity of the Royal. We hold that God is greater then king. Naturally the path of approach to Him should be termed the 'Rayal Path'-Raja Yoga'. Raja Yoga realy is a judicious combination of the Karma, Jnan and Bhakthi yogas. No body need quarrel over this. After some practice they will come to know the 'efficecy of Raja yoga'.

In Sahaj Marga we are following the path of Rajayoga only and I need not elaborate on this. We have fixed the goal and the means. But who will guide us. Only that person, who knows the right path, can take us along. For this we require a Guru, a Master of calibre.

God is simple and the way should be simpler. It is unnecessary to decide beforehand, even when you are an Abhyasi, whether you will be an Advaithi or Dwaithi. It is just like deciding the future career of a young child of 5 or 6 years, whether he is going to be an engineer, a doctor, a lawyer or a politician, even before we know what aptitude he will have and what subjects he will be proficient in.

An Abhyasi should start his practice diligently

withunsevereing faith or श्रद्धा, and indomitable iron will and highest devotion towards his Master.

श्रद्धावान् लभते सर्वं ।
नाथं आत्मा बलहीनेन लभ्यः ।

'Balaheena' does not refer to physical weakness. It refers to only the weak-willed persons. A man may be physically weak, but he may have an iron will.

God cannot be realised by preaching प्रवचन or by intellect मेधा or by reading and learning Sashtras.

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः
न मेधया न बहुना क्षुतेन ।
यमेवैषः वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।

So this can be attained only by approaching a Proper Master and seek his guidance.

तद्विधि प्राणिपातेन पारिप्रानेन सेवया ।

The importance of Master, in an Abhyasi's advancement towards the path of divinity is a very great one. Because the march or pace of an Abhyasi certainly lies with the qualities of his Master.

Please note our thumb and the index finger in our hand. The thumb is the thickest finger generally in all our hands. It is described in our Upnishads that the 'Atma' in our hearts Angushtamatra or thumb sized. I may go a step further. How is our thumb ? it is short, very thick. In other works, we confirmatively say that it is gross. Please see our index finger. It is sharp and long and its function generally is to point out. When we ask a person to see a thing or when we show the way to a person, we generally point through our index finger. In the science of palmistry, the mount of Jupiter (representing wisdom) is under the



index finger and the Thumb is studied to measure the will of a person. Suppose we compare the thumb to the disciple (Abhyasi) and the index finger to the Guru (who shows the way), we now get a meaning. That is how the symbolic. expression of 'Chirmudra' has come, by joining the thumb with the index finger. That is, the disciple attaches himself to the Guru and becomes one with him. The joining of these two fingers looks like a circle. The disciple merges himself into his Master and the Master's current fully begins to flow into the disciple. The disciple himself becomes a high velocity live wire. What is the current that is flowing in him ? That is the Divine. Now we understand the important part of the Guru in the evolution of the disciple. This is how the will and wisdom, the disciple and the Master, the chit and Sat, the Jeeva and Brahman uni-on or yoga takes place.

By intense faith in his Master, the disciple comes nearer to Brahman Sameepya ; by intense devotion he gets Sarupya ; by deep meditation he attains Salokya ; and by constant remembrance अनन्यचिन्या and complete self-surrender, he is lost in his Master and that is Sayujya. So if the Master of calibre is always in Laya in Brahman, and if the disciple loses his identity completely in such a Master, naturally it goes without saying that the disciple also is lost in Brahman. This is simple Algebra, given by our Master—If A is equal to B, and B is equal to C, then C becomes equal to A. How deftly and silently has our beloved Master put in his writing this simple formula. Because it is so simple we have not attached much importance to it. we have over-looked it. Master himself has said in his book

that appearance is deceptive and great souls who are always in laya in Brahmah look very simple. That simplicity itself is a veil around them. But how subtle a veil ! If only we are a little subtle, we can easily push aside this veil and be nearer to Him and get His full grace. Then we really will travel light, as he has mentioned in one of his recent articles in the Patrika.

Sahaj Marg is really Saral Marg. The method is so simple, the goal is the Highest, and the Master is so simple and easiest to approaeh, that even an illiterate Abhyasi can succeed. Dos and donts are very few, as Shri Ishwar Sahai ji says in his 'A Peep into Sahaj Marg.' The 'Ten Commandments' are not difficult to follow.

The easiest method, I will tell you. I proclaim from the top-most part of the tallest tower—'follow this one easy method i. e. constant remembrance.' I proclaim again this in my full-throated voice, as Sri Ramanuja who was prepared to incur the wrath of his Master, 'I have found out the easiest method which will save mankind 'Develop Constant Remembrance'. Other results follow.

He is compassion incarnate. His grace is infinite He is Infinity—even full Purna He will take us 'Towards Infinity towards Bhuma through the various bhumikas. There is no doubt about this.

'That is Infinity. This is Infinity. Infinity comes out of Infinity. Even taking out Infinity from Infinity, the remainder is still Infinity only.'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते ॥